बिहार निर्माता
सर गणेशदत्त सिंह

उन दिनों बिहार बंगाल प्रेसिडेंसी का हिस्सा था। सन् 1912 में बिहार और उड़ीसा बंगाल से अलग होकर नया राज्य बना। उस समय कई बड़े नेता बिहार के पुनरुत्थान के लिए काम कर रहे थे। इनमें से सर अली इमाम, हसन इमाम, कृष्णा सहाय, सैयद महमूद फखरुद्दीन, सच्चिदानंद सिन्हा एवं गणेशदत्त के नाम उल्लेखनीय हैं।

तब बिहार एक पिछड़ा हुआ राज्य था। शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात और सामाजिक संस्थानों का घोर अभाव था। ऐसे वक्त में चौदह वर्षों तक मंत्रिपद पर बने रहकर गणेश दत्त ने जिस निष्ठा और ईमानदारी के साथ अपने दायित्व को निबाहा, वह अतुलनीय है।

उन दिनों बिहार-उड़ीसा राज्य समेत पूरे भारत में द्वैध शासन प्रणाली 1921 से 1937 तक प्रचलन में थी। गणेशदत्त सिंह 1923 से लेकर 1936 तक बिहार-उड़ीसा के स्वायत्त शासन मंत्री और 1936 में उड़ीसा के बिहार से अलग हो जाने पर 1936-37 में बिहार के इसी विभाग के मंत्री रहे। उस समय भारत के किसी प्रांत में या ब्रिटेन में भी इतने लंबे समय तक कोई मंत्री नहीं रहा था।

गणेश का जन्म 13 जनवरी, 1868 को पटना जिले के गोनावाँ नामक गाँव (अब नालंदा जिला) में हुआ था। बाद में इनका परिवार बगल के छतियाना गाँव में जा बसा। इनके पिता डेग नारायण सिंह संपन्न जमींदार थे। गणेशदत्त जब ढाई वर्ष के थे, इनके पिता का देहांत हो गया। माँ मैना कुमारी देवी ने गणेश को पाल-पोसकर बड़ा किया। 12 वर्ष की उम्र में इनकी शादी हो गई। इकलौता बेटा होने के कारण इनकी पढ़ाई-लिखाई पर ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए गणेश अशिक्षित रह गए।

गणेश अपने परिवार और गाँव में मग्न थे। वे एक सामान्य सुखी व्यक्ति का जीवन जी रहे थे। तभी एक दिन उन्हें अपनी पत्नी को लाने के लिए ससुराल जाना पड़ा। ससुराल में गणेश के ससुर ने एक टेलीग्राम पढ़ने को दिया। वह पढ़ नहीं पाए, तब ससुर ने दुःखी मन से कहा, 'मेरा दामाद निरक्षर है, यह जानकार बहुत दुःख हो रहा है।' ससुराल में सालियों और सलहजों ने भी खूब मजाक बनाया।

गणेश के मन को बड़ी ठेस लगी, उन्हें ग्लानि भी हुई। उन्होंने अपनी माता की अनुमति ली और पढ़ाई शुरू कर दी। एक वर्ष तक गाँव में पढ़ने के बाद 18 वर्ष की उम्र में गणेश ने पटना के कॉलेजियट स्कूल के पाँचवें वर्ग में दाखिला लिया।

यहाँ उन्होंने पाँच वर्ष (1886-1891) तक पढ़ाई की। उन्हें अगले वर्ष से ही प्रथम श्रेणी मिलने लगी। 1891 में गणेश को इंट्रेस की परीक्षा में प्रथम स्थान मिला। गणित में प्रवीणता के लिए रजत पदक और 10 रुपए मासिक का वजीफा भी।

गणेश दत्त पटना कॉलेज में 1893 में एफ.ए. और 1895 में बी.ए. की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। करीब 30 वर्ष की आयु में उन्होंने पटना कॉलेज से वकालत की परीक्षा पास की।

पटना जिला न्यायालय में 7 वर्ष तक वकालत करने के बाद गणेश कलकत्ता चले गए और वहीं उच्च न्यायालय में वकालत करने लगे। 1916 में जब पटना हाईकोर्ट की स्थापना हुई तो गणेश पटना आ गए।

गणेश ईमानदार और परिश्रमी थे। जनता धीरे-धीरे उनकी प्रतिभा, मेहनत और ईमानदारी से प्रभावित हो गई। 1921 में गणेश गया गैर-मुसलिम देहाती चुनाव क्षेत्र से बिहार-उड़ीसा लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य चुन लिये गए।

उन दिनों विधान मंडल में एक ही सदन होता था, जिसे परिषद् (काउंसिल) कहते थे। यह पूरे बिहार और उड़ीसा के लिए था। गणेश को काउंसिल में रहकर जनोपयोगी काम करने का अवसर दिखाई दिया। वे काउंसिल की बैठकों में जमकर भाग लेने लगे। वे तैयार होकर आते और काउंसिल में तर्क के साथ जनोपयोगी बातें कहते।

दो वर्ष बाद ब्रिटिश सरकार की इन पर दृष्टि पड़ी। 27 मार्च, 1923 को उन्हें बिहार-उड़ीसा स्वायत्त शासन (लोकल सेल्फ गवर्नमेंट) में मंत्रिपद मिला। पाँच वर्ष बाद ही जून

1928 में ब्रिटिश ने इनकी जनसेवा से खुश होकर उन्हें 'सर' की उपाधि दी। वे 'नाइट' बना दिए गए।

इस सीमित अवधि में ही उन्होंने कई अद्‌भुत काम किए। रेडियम इंस्टीट्यूट, पटना मेडिकल कॉलेज, भारतीय मानसिक रोग अस्पताल काँके, आयुर्वैदिक कॉलेज, तिब्बी कॉलेज, वेटेनरी कॉलेज, ईटकी सेनिटोरियम, लेडी स्टीफेंसन मातृ-शिशु केंद्र, नेत्रहीन विद्यालय, गूँगा-बहरा स्कूल, डेयरी फार्म की स्थापना इन्हीं दिनों हुई।

देश के प्रख्यात आर्थोपेडिक सर्जन डी.बी. मुखोपाध्याय गणेश के बड़े प्रशंसक थे। एक साक्षात्कार में उन्होंने गणेश की आधुनिकता और दूरदर्शिता की भरपूर प्रशंसा करते हुए कहा था, "सर गणेश के प्रयासों से ही मेडिकल स्कूल ऑफ पटना मेडिकल कॉलेज बना। उनके वक्त में शिक्षकों का चयन राष्ट्रीय स्तर पर होता था। शिक्षकों की सिर्फ योग्यता देखी जाती थी, उनकी जाति, धर्म और क्षेत्रीयता नहीं।"

इसलिए यह मेडिकल कॉलेज शीघ्र ही देश के सर्वोत्तम मेडिकल कॉलेज में शामिल हो गया। गणेश के प्रयासों से ही पटना विश्वविद्यालय स्वतंत्र विश्वविद्यालय बना। इसके पहले यह कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन था। मुखोपाध्याय कहते हैं, "यहाँ भी विभागाध्यक्षों का चुनाव राष्ट्रीय स्तर पर होने लगा। सिर्फ योग्यता को ही महत्त्व दिया गया, इसलिए बहुत कम समय में पटना विश्वविद्यालय की गिनती देश के सर्वोत्तम विश्वविद्यालय में होने लगी।"

बंगाल प्रेसिडेंसी के समय से ही यक्ष्मा के इलाज के लिए एक सेनिटोरियम और मानसिक रोगों के इलाज के लिए अस्पताल की योजना थी। प्रेसिडेंसी से अलग होने के बाद गणेश के प्रयासों से ही राँची में 'ईटकी सेनिटोरियम' और कांके में 'मानसिक अस्पताल' की स्थापना हो सकी।

डॉ. मुखोपाध्याय कहते हैं, "मैं इस सेनिटोरियम को दुनिया के सर्वोत्तम संस्थानों में मानता हूँ, बल्कि इसे रोम के विश्व प्रसिद्ध 'फोरलैनिन इंस्टीट्यूट' से भी बढ़िया मानता हूँ।

"मैं जब स्वास्थ्य विभाग में निदेशक था तो 'ईटकी सेनिटोरियम' के निरीक्षण के दौरान यह देखकर विस्मित रह गया कि गणेश ने दूसरे या तीसरे दशक में ही ईटकी सेनिटोरियम की

परिकल्पना इस तरह की थी कि वह पश्चिम के देशों से भी अधिक वैज्ञानिक और आधुनिक था—यह आश्चर्यजनक था।''

मानसिक आरोग्यशाला, कांके के लिए उन्होंने 600 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया था—उनकी दृष्टि अद्‌भुत थी। मानसिक रोगियों के पुनर्वास के लिए बहुत सारे साधन उपलब्ध कराए गए थे। 400 एकड़ जमीन खाली छोड़ी गई थी, ताकि वहाँ रहनेवाले लोग उसमें खेती कर अपनी जरूरत की चीजें उपजा सकें।

डॉ. मुखोपाध्याय कहते हैं, ''वर्षों बाद जब मैं क्यूबा गया तो वहाँ मैं यह देखकर विस्मित रह गया कि काँके की तरह की व्यवस्था वहाँ भी थी। गणेश की आधुनिक सोच और नजरिए का यह एक उदाहरण है। उनका निरंतर यह प्रयास रहा कि बिहार को किस तरह आगे बढ़ाएँ।''

स्वायत्त शासन की मंत्री की हैसियत से उन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड (जिला परिषद्) के कामों को देखना होता था, उनकी नजर पैनी थी। वह चाहते थे कि सदस्य एक रुपए का भी दुरुपयोग न करें और ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करें। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अस्पताल का निर्माण करवाता था। डॉ. मुखोपाध्याय लिखते हैं, ''मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ था कि गणेश के नेतृत्व में बने इस अस्पताल में सारी सुविधाएँ थीं। परिसर में ही कर्मचारियों के रहने की व्यवस्था थी, ताकि बाद में बढ़ती हुई आबादी को देखते हुए इसका विस्तार किया जा सके।''

उनके जनहितकारी कामों, विशेषकर शिक्षा-प्रसार संबंधी प्रयत्नों से प्रभावित होकर पटना विश्वविद्यालय ने उन्हें 1933 में 'डॉक्टर ऑफ लॉ' की मानद उपाधि से सम्मानित किया। मंत्रिपद पर गणेश 1937 तक बने रहे। प्रख्यात इतिहासकार योगेंद्र मिश्र लिखते हैं, ''14 वर्षों तक मंत्रिपद पर बने रहना अपने में सचमुच विस्मयकारी घटना है, परंतु इससे भी विस्मयकारी है अपना दायित्व निभाना और स्वायत्त शासन एवं चिकित्सा संबंधी सहायता कार्य के क्षेत्रों में नए जनोपयोगी काम करना तथा अपने वेतन का केवल एक चतुर्थांश अपने लिए रखकर तीन चतुर्थांशों का सार्वजनिक कार्यों के लिए दान कर देना। अपने जीवनकाल में अपनी आय का 75 प्रतिशत प्रतिमास दान करना, ऐसा सपूत शायद ही कोई मिले।''

गणेश अपने वेतन का तीन चौथाई भाग छूते तक नहीं थे। उस समय मंत्री का वेतन 4 हजार रुपए मासिक था। 3 हजार रुपए सीधे सरकार के यहाँ जमा होते थे। इनमें से गणेश ने करीब 4 लाख रुपए पटना विश्वविद्यालय को उच्च शिक्षा में छात्रवृत्ति के लिए दिए।

उस राशि से 14 अप्रैल, 1933 को 'गणेशदत्त ट्रस्ट फंड' की स्थापना हुई। छात्रवृति देने के भी कुछ मापदंड बने। गणेश की इच्छा के अनुसार 5 श्रेणियाँ बनाई गईं। पहले स्थान पर अस्पृश्य जाति के लोगों को रखा गया। दूसरे स्थान पर जनजातियों के साथ-साथ बढ़ई, धानुक, कहार इत्यादि को रखा गया। तीसरी श्रेणी में यादव, कोइरी तथा कुर्मी थे। चौथे स्थान पर भूमिहार, ब्राह्मण, खत्री, राजपूत और अग्रवाल रखे गए। पाँचवें में एंग्लो-इंडियन, बंगाली, कायस्थ तथा मुसलमान थे। इसके अतिरिक्त गणेश अपने बचे धन से गरीब-प्रतिभाशाली छात्रों की जीवनपर्यंत मदद करते रहे, चाहे वह किसी भी जाति का हो।

उन दिनों स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता सेनानियों का एक बड़ा समूह अंग्रेजों से जूझ रहा था। सरकार में रहते हुए भी गणेश की सहानुभूति उन सेनानियों से थी, वह अकसर उनकी मदद करते।

आचार्य कपिल ने उन्हीं दिनों को याद करते हुए लिखा है, "एक बार मेरी उपस्थिति में ही जयप्रकाशजी बेनीपुरीजी के साथ उनके यहाँ पधारे। थोड़ी देर तक सामान्य अनौपचारिक बातें होती रहीं। फिर स्वयं गणेश ने उनसे, यानी जयप्रकाशजी से उनके आने का उद्‌देश्य पूछा। जयप्रकाशजी ने बड़ी सहजता से उत्तर दिया कि उन्हें कुछ रुपए चाहिए। थोड़ी देर तक तो गणेश चुप रहे, फिर बोले कि यदि आपको कोई व्यक्तिगत जरूरत हो तो आप जो कहें, दे दूँगा, पर अपने खिलाफ आंदोलन चलाने के लिए कुछ भी देना संभव नहीं है। अपने ही विनाश के लिए अपनी ही आहुति देना तो धर्म-विरुद्ध है। इस पर थोड़ी हँसी हुई, पर बड़े अदब लिहाज के साथ। फिर जयप्रकाशजी ने कहा कि मुझे खुद जरूरत है, तो क्षणों में ही उनके हाथों में रकम, मैं कह नहीं सकता कि वह कितनी थी, पर दी गई। जयप्रकाशजी और बेनीपुरीजी दोनों उन्हें प्रणाम कर प्रसन्न लौट गए। पता नहीं जयप्रकाशजी ने उस दान का उपयोग अपने लिए किया या साप्ताहिक 'जनता' के घाटे की पूर्ति में। गणेशदत्त ऐसे ही थे।"

हिंदी के प्रख्यात लेखक स्वर्गीय रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपनी संस्मरणात्मक लेखों की

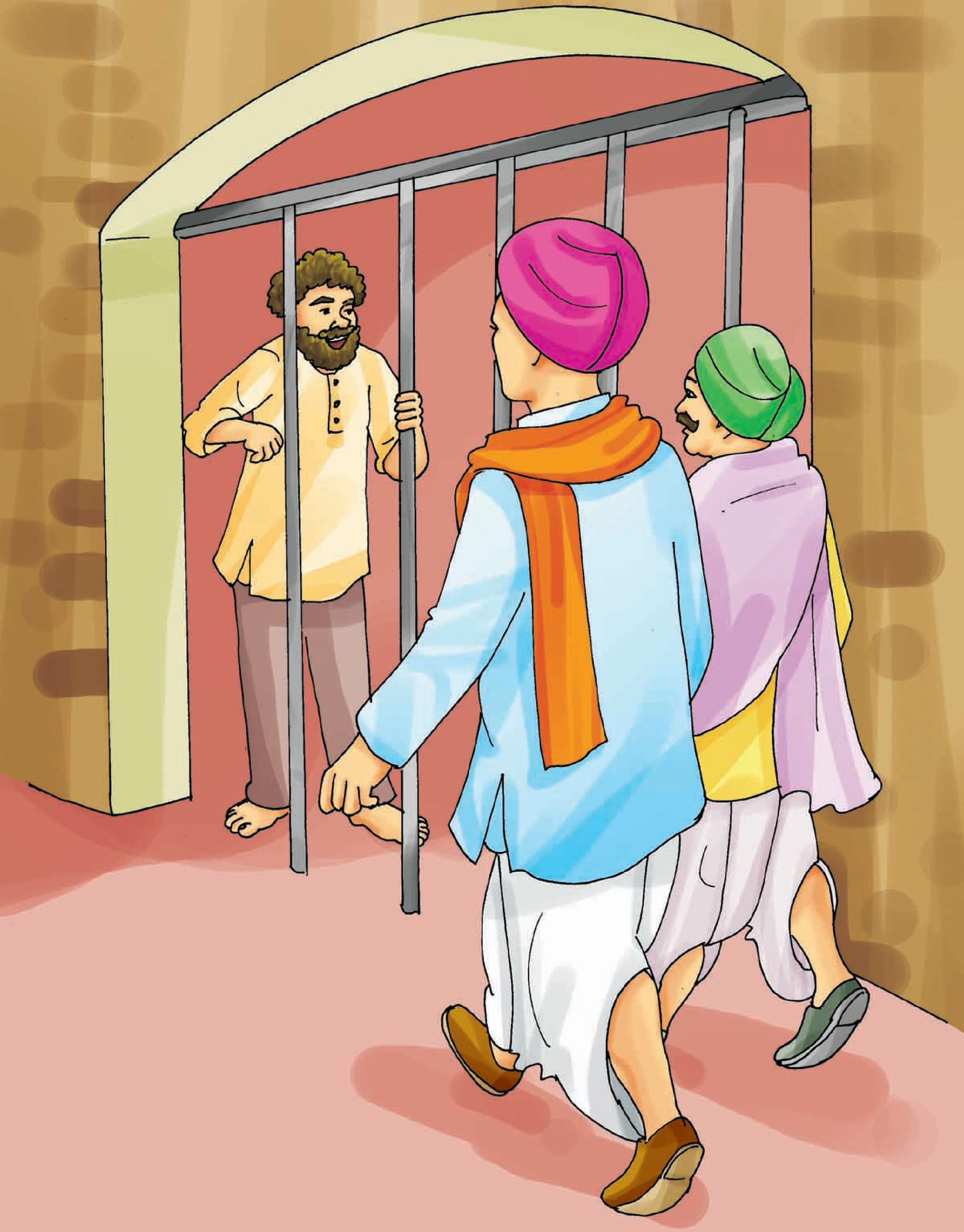

पुस्तक 'मुझे याद है' में गणेश को याद करते हुए लिखा है, "एक बड़ी ही मधुर स्मृति है। एक बार जयप्रकाशजी और मैं गणेशदत्त सिंह से मिलने गए। सर गणेश जैसा त्यागी सपूत बिहार ने दूसरा पैदा नहीं किया, ऐसा बिना हिचक कहा जा सकता है। जब तक वह मिनिस्टर रहे, अपने मामूली खर्चे के अतिरिक्त उन्होंने एक-एक पैसा दान में दे दिया। उनके दिए गए लाख रुपए से विश्वविद्यालय उपकृत हुआ। उनके द्वारा स्थापित छात्रवृत्तियों ने कितने ही विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा का द्वार आज तक खोल रखा है। एक-एक पैसा उन्होंने दिया—वह शब्दश: सही है। यह सर्वप्रकट है कि अपनी पौत्री के विवाह में एक बार उन्होंने अपने बेटे को कुछ रुपए दिए तो हैंड नोट करा लिया और उससे पैसे वसूलकर विश्वविद्यालय को दे दिए।"

गणेश कुछ और भी अद्‌भुत काम किया करते थे। जब जयप्रकाशजी 1937 में जेल में थे, उनके पूज्य पिताजी बहुत बीमार पड़े। गणेश ने जयप्रकाशजी को समय से पहले छोड़ दिए जाने के लिए प्रयास किए और वह इसमें सफल हुए थे।

जब महायुद्ध शुरू हुआ, जयप्रकाशजी ने कहा, "चलिए, उस वृद्ध-वसिष्ठ से हम मिल आएँ, न जाने फिर सुअवसर मिले या नहीं!" संयोग देखिए, मैं बीस वर्षों से पटना में था, किंतु कभी उनसे मिला नहीं था। मुझे लोगों ने कह रखा था, वह जात-पाँत के पक्षपाती हैं, भूमिहारों का पक्ष लेते हैं। मैं भूमिहार था, अत: निश्चय कर लिया था, कभी उनसे मिलूँगा ही नहीं।

किंतु जयप्रकाशजी के साथ जाने में क्या उज्र हो सकता था? अब गणेश राजनीति से पृथक् थे और एक तपस्वी का जीवन बिता रहे थे। अत: हम उनकी सेवा में पहुँचे। जब मेरा परिचय उन्हें दिया गया, उन्होंने अपनी स्वाभाविक मगही बोली में कहा, "तुम वही बेनीपुरी हो, जो कहता है कि जमींदारी प्रथा उठा दी जाए!" मैंने अपराध स्वीकार किया। वह मुसकराकर बोले, "मैंने सोच रखा था, तुम देखने में बड़े भयानक होगे, किंतु तुम्हें तो उसके विपरीत पा रहा हूँ।" फिर बड़ी गंभीरता से बोले, "देखो, मैं पच्चीस वर्षों तक बिहार जमींदारी सभा में रहा हूँ और कोशिश की कि जमींदार सुधर जाएँ, किंतु वे अपने को सुधार नहीं सके। जो सुधर नहीं सकेगा, उसका अंत तो होगा ही।"

कुछ देर तक हम उनका मुँह देखते रहे। फिर उन्होंने जयप्रकाशजी को बताया कि किस प्रकार एक आयरिश मित्र के आग्रह पर, जब वह कलकत्ता में थे, एक सोशलिस्ट क्लब के मेंबर बने थे। ''बिहार का मैं पहला सोशलिस्ट हूँ।'' उन्होंने मुसकराकर कहा।

अब जयप्रकाशजी की बारी थी। उन्होंने तुरंत पेश किया, ''तो हमारी मदद कीजिए कि वह बुरी प्रथा तुरंत नष्ट हो जाए!'' गणेश फिर मुसकराए, बोले, ''नहीं, मेरी स्थिति भीष्म की तरह है। विजय का आशीर्वाद तुम्हें दूँगा और लड़ूँगा उनकी ओर से, यद्यपि अब मेरी स्थिति उसके योग्य भी नहीं रह गई।'' उनके चेहरे पर करुणा छा गई।

तो मैं क्या समझूँ, जमींदारी प्रथा उठ जाने से, अपने आशीर्वाद की सार्थकता पर उस वृद्ध वसिष्ठ की आत्मा स्वर्ग में आनंदित हुई होगी?

गणेश एक युगद्रष्टा ही नहीं थे, समाज के दबे-कुचले लोगों के उत्थान के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहे। 1923 में ही उन्होंने सदन में एक प्रस्ताव रखा था—'भंगी मुक्ति के लिए'। मेहतरानियों को मैला ढोते देख उन्हें असीम पीड़ा होती थी। वे इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करना चाहते थे। गंगा में बढ़ता प्रदूषण भी उनकी चिंताओं में शामिल था। उन्होंने इसके लिए सदन में एक प्रस्ताव पारित करवाया था।

उनका व्यक्तिगत जीवन भी उनके सार्वजनिक जीवन से कम अनुकरणीय नहीं था। उनकी पत्नी का युवावस्था में ही देहांत हो गया था। उन्होंने दूसरी शादी नहीं की। अपने दो पुत्रों को उचित शिक्षा दिलवाई। उनमें एक वकील बने, दूसरे जज। विरासत में पाई संपत्ति उन्होंने बच्चों को दे दी थी। कंजूसी से बचाए व्यक्तिगत धन का उपयोग वे सार्वजनिक कामों में ही करना चाहते थे—अपने परिवार के लिए नहीं। इसलिए जब पोती की शादी पर उन्होंने अपने बेटे को कर्ज दिया तो उसकी वसूली भी उन्होंने करवाई।

गणेश 1921 से 1937 तक बिहार विधान परिषद् और 1937 से 1938 तक बिहार विधान सभा के सदस्य रहे। स्वास्थ्य ठीक नहीं रहने के कारण उन्होंने विधानसभा की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया।

डॉ. श्रीकृष्ण सिंह गणेश के महान् प्रशंसक थे। उनके त्यागपत्र देने पर श्रीकृष्ण सिंह ने सदन में कहा था, ''एक दूसरी तरह से हमें एक दूसरा नुकसान हुआ है कि डॉ. गणेशदत्त

सिंह का इस सदन से अवकाश ग्रहण करना। महाशय, कई अवसर ऐसे आए हैं, जब हम उनके द्वारा व्यक्त विचार सुनकर दंग रह गए। वे हमसे बिल्कुल विपरीत विचार रखते थे और कभी-कभी उन्होंने सदन के इस पक्ष से अपने चरम विचार के लिए तत्क्षण प्रतिवाद भी पाया। महाशय, इसी कारण मैं अधिक कमी महसूस करता हूँ। उनके द्वारा सदन से त्यागपत्र देने के कारण हमें एक बड़ी कमी महसूस हो रही है। एक लोकप्रिय सरकार को भी आलोचना की आवश्यकता होती है।

''वस्तुत: नेकनीयत के साथ ईमानदार आलोचना, ताकि सरकार अपने सही पथ पर चलती रहे और ऐसी आलोचना हमें गणेशदत्त सिंह की ओर से ही मिलती थी। उन्हें यहाँ न पाकर थोड़ा दुखी हूँ। महाशय, जो चीजें ऐसी हैं, जिसे इस सदन में उपस्थित किसी पक्ष की कोई कर्तव्य-चेतना उन्हें सदन की बहस में भाग लेने के लिए मजबूर करती थी। उनके विचार ऐसे थे, जिससे हम स्तब्ध रह गए। उनके विचारों से कुछ लोगों के मन में तीव्र विरोध उत्पन्न होता था, परंतु वे अपने विचार रखने में पूर्ण ईमानदार थे और अपने विचारों की अभिव्यक्ति में वे हमेशा निर्भीक रहे। यह उनमें एक बहुत बड़ी खूबी थी, जिसके कारण किसी भी विधायक के मन में उनके प्रति स्वत: प्रेम उत्पन्न होता था। उनका सबसे पहले सदन में आना और सबके चले जाने के बाद सदन से जाना स्फूर्तिदायक था। इस बुढ़ापे में भी वे सदन की काररवाई में गहन रुचि लेते थे। वे सबसे पहले अपने स्थान पर होते थे और शायद सबसे अंत में अपना स्थान छोड़ते थे। वे सदन की बहस में भाग लेने के लिए सूक्ष्म बातों की जानकारी के साथ तैयार होकर आते थे। शायद वे सदन की कार्यसूची की प्रत्येक पंक्ति पढ़कर आते थे और बहस के प्रत्येक बिंदु पर उनके जैसे बूढ़े आदमी को खड़े होकर भाग लेते हुए देखकर ताजगी मिलती थी।

''दूसरी बड़ी बात जो उनमें थी, जिसके लिए प्रत्येक बिहारी को गर्व होगा और जिसके लिए उनके प्रति श्रद्धा होगी, जिससे हम सीख ले सकते हैं, जो आदर्श उन्होंने हमारे सामने रखा, वह था उनका त्याग, मैं प्रांत के वैसे लोगों को जानता हूँ, जिन्होंने दान में लाखों रुपए दिए हैं। परंतु ये लोग वैसे थे, जो लाखों रुपए देने लायक थे, किंतु यहाँ एक गरीब आदमी था, जीवन में एक सामान्य परिस्थितियों का आदमी था, उन्होंने दान में लाखों रुपए दिए—ये

रुपए वे अपनी संतान को दे सकते थे, जिससे वे अधिक अमीरी से जीवनयापन कर सकती थी। मैं जानता हूँ, राष्ट्रीय मूल्यों के ह्रास का मूल कारण है कि हमने राष्ट्र को अपने से ऊपर नहीं रखा है, परंतु एक बूढ़ा आदमी था, जिसने अपने बच्चों को अपनी कमाई के कुछ सौ रुपए निजी कार्य के लिए लेने की इजाजत नहीं दी। यह इसलिए कि इससे अपने प्रांत में शिक्षा और अन्य समाज-सुकार्य के लिए धन-वृद्धि कर सके। ये दो सीखें हैं, जिससे हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन में कुछ सीख सकता है।''

मंत्रिपद से हटने के बाद गणेश ने पटना कॉलेज के समीप 'कृष्णकुंज' नामक मकान बनवाया, जहाँ उनका शेष जीवन गंगा तट पर भगवद् भजन में बीता। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही अपना निवास 'कृष्णकुंज' की पटना विश्वविद्यालय के नाम वसीयत कर दी थी।

गणेश अंतिम दिनों में बीमार रहने लगे थे। इसी अवस्था में 26 सितंबर, 1943 को दोपहर करीब साढ़े बारह बजे उनका प्राणांत हो गया। यह एक बहुत बड़ी क्षति थी।

सच्चिदानंद सिन्हा ने अपनी पुस्तक में उनकी मृत्यु पर लिखा—''सर गणेशदत्त सिंह अभूतपूर्व ढंग से 14 वर्षों तक बिहार-उड़ीसा के मंत्री रहे। उन्होंने उदारतापूर्वक अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा जनोपयोगी कार्यों के लिए दान देकर एक मिसाल कायम की। उन्होंने चार लाख रुपए पटना विश्वविद्यालय को छात्रवृत्तियाँ देने के लिए प्रदान किए। इसमें कोई शक नहीं कि आनेवाली पीढ़ियाँ उन्हें एक महान् परोपकारी के रूप में सम्मान देंगी और ऐसे लोगों में शामिल करेंगी, जिन्होंने स्वेच्छा से कठिन जीवन बिताया, ताकि गरीब उनकी बचत से लाभान्वित हो सकें।

''उनकी परोपकारिता इस मायने में अद्‌भुत है कि अपने वंशजों की उपेक्षा करते हुए उन्होंने अपने जीवन की सारी कमाई बिहार की भावी पीढ़ी के उज्ज्वल भविष्य के लिए उदारतापूर्वक दान कर दी।''

◆◆◆